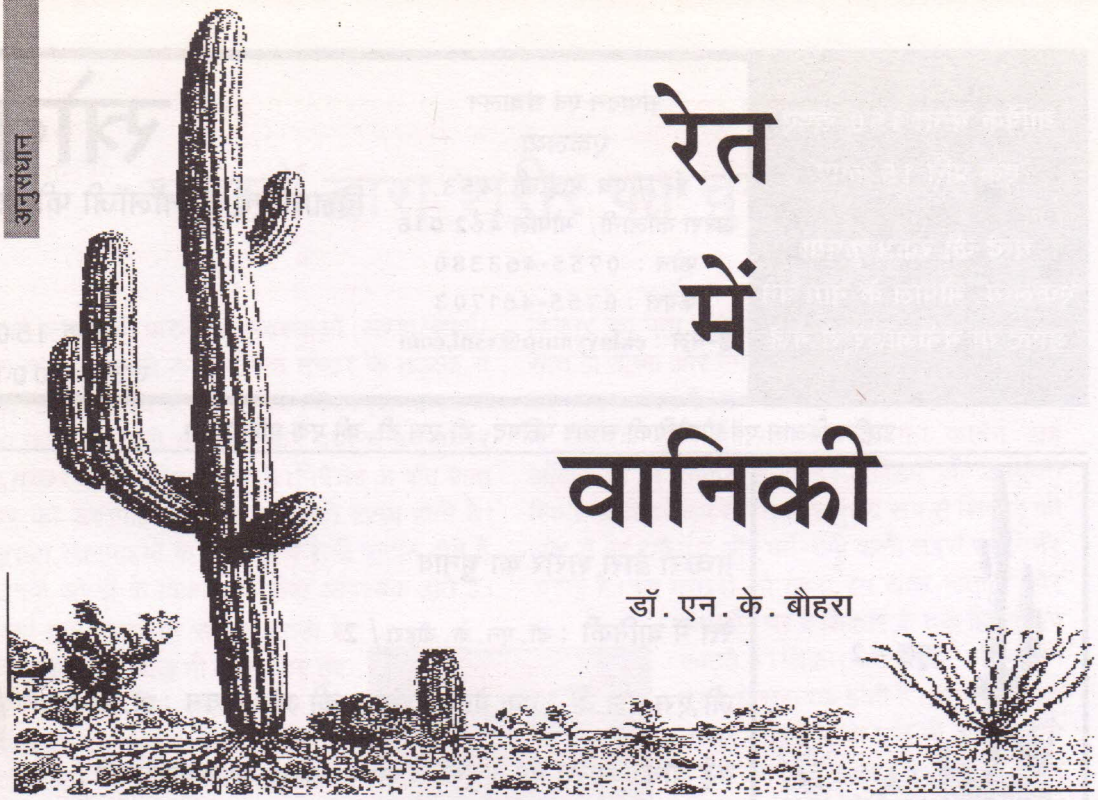

रेत में वानिकी

डॉ. एन. के. बौहरा

भारत का तकरीबन 12 प्रतिशत भूभाग रेतीला है। यह राजस्थान, गुजरात, हरियाणा व पंजाब प्रांतों में बिखरा पड़ा है। इस 12 प्रतिशत रेतीले भूभाग का 60 प्रतिशत क्षेत्र पश्चिमी राजस्थान में है और थार मरुस्थल कहलाता है। मरू प्रदेश की कठिन परिस्थितियों और विषम जलवायु के चलते यहां के लोग संघर्षमय जीवन जीने को बाध्य हैं। यहां गर्मियों में तापमान 50 डिग्री तक पहुंच जाता है, साथ ही धूलभरी तेज़ आंधियां इस क्षेत्र में जीवन को दुष्कर बना देती हैं। मॉनसून के दौरान मरू प्रदेश में वर्षा बहुत ही कम तथा अनियमित होती है। इसके बावजूद यहां के लोग सुखी एवं समृद्धशाली जीवन जीने हेतु प्रयत्नशील हैं। इनकी मुख्य समस्या विषम भौगोलिक स्थितियों और जलवायु से पार पाने की है। इस क्षेत्र में विकास हेतु चलायमान टीले और जल एक प्रमुख समस्या है। इसके अलावा भूमि, परती भूमि जैसी कई अन्य समस्याएं भी हैं।

पूरे मरू प्रदेश में बालू व बालू के टीलों की भरमार है। राजस्थान, गुजरात, हरियाणा और पंजाब के मरू क्षेत्रों का लगभग 88,078 वर्ग कि.मी. भूभाग टीलों से प्रभावित है। राजस्थान के थार मरुस्थल का तकरीबन 58 प्रतिशत भाग विभिन्न आकार, प्रकार व नाप के टीलों से भरा है। कुछ लम्बे चौड़े टीले तो 80-100 मीटर तक की ऊंचाई वाले हैं। तेज़ हवाओं से ये टीले एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं तथा फसलों, आवासीय स्थानों, नहरों, रेल की पटरियों व आम यातायात के साधनों को इतना अधिक प्रभावित करते हैं कि दिन प्रतिदिन के सारे क्रियाकलाप रुक से जाते हैं।

मरू वानिकी अनुसंधान

मरू क्षेत्र की समस्याओं का सबसे बेहतर उपाय है सघन वृक्षारोपण। इस क्षेत्र की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वैज्ञानिकों ने वानिकी क्षेत्र में अनुसंधान कर कई नवीन तकनीकों का निर्माण किया है। इनके उपयोग से मरू क्षेत्र की वानिकी में एक नई क्रांति लाने के प्रयास जारी हैं। वानिकी अनुसंधान की कुछ महत्वपूर्ण तकनीकें इस प्रकार हैं-

1. टीला स्थिरीकरण : इस प्रदेश क़ी प्रमुख समस्या है चलायमान टीले। टीला स्थिरीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी

माइकोराइज़ा का शाब्दिक अर्थ कवक व जड़ का सहजीवन है। इस सहजीवन में कवक पौधों से कुछ प्राप्त करता है तथा बदले में वह पौधे को पोषक तत्व तथा पानी प्रदान करता है। माइकोराइज़ा पौधों को असामान्य स्थिति में भी बढ़ने में सहायता देता है तथा उन्हें भांति-भांति के रोगों से बचाता है। यह वन लगाने अथवा शुष्क व बंजर ज़मीन को हरा भरा बनाने में भी सहायक है।

समस्या वायु द्वारा मृदा का क्षरण है जिससे नए लगाए गए पौधे मिट्टी में दब जाते हैं। इनके स्थिरीकरण हेतु तेज़ हवाओं की गति को कम कर मृदा का क्षरण रोकने के लिए चेकरबोर्ड डिज़ाइन में लगभग डेढ़ फीट ऊंचे लघु वायुरोधी (माइक्रो विंडब्रेक) लगाए जाते हैं। ये लघु वायुरोधी स्थानीय झाड़ियों, विशेषकर फोग एवं सिनिया आदि से बनाए जाते हैं तथा 5×5 मीटर की दूरी पर मई-जून माह में लगा दिए जाते हैं। इसके बाद मानसून की प्रथम वर्षा के साथ ही स्थानीय घास (सेवण) के बीजों की बुवाई इन लघु वायुरोधी की लाइनों के साथ-साथ कर देनी चाहिए ताकि भविष्य में जीवित पौधों का लघु वायुरोधी तैयार हो सके। इस प्रकार के प्रयासों से टीला स्थिरीकरण की समस्या से निजात मिल सकेगी।

2. जड़ साधकों में पौधों का निर्माण: किस्म अच्छी होने से पौधों की उत्पादकता बढ़ती है तथा उत्तम किस्म के पौधे प्राप्त किए जा सकते हैं। पाइप रोपणी में परम्परागत पॉलीथीन बैग में पौधे तैयार करने के बजाए विगत कुछ वर्षों में एक विशेष प्रकार के पात्रों में पौधे तैयार किए जाने लगे हैं। इन्हें रूट ट्रेनर या जड़ साधक कहा जाता है। जड़ साधक उच्च स्तर के पॉलीथीन के बने पात्र हैं और इनमें अल्ट्रावॉयलेट अवरोधक लगा होता है। ये एक ट्रे के रूप में होते हैं तथा इनमें आसान परिवहन व सुविधा हेतु 20 पात्रों के एक सेट को 5×4 की लाइनों में व्यवस्थित किया जाता है। ये प्रत्येक पात्र 150 क्यूबिक सें.मी. क्षमता वाले होते हैं तथा इनके तल में छिद्र होता है। इन पात्रों में ऊपर से नीचे तक, एक दूसरे के समानान्तर पांच खांचे होते हैं। इन खांचों के कारण जड़ें कुंडलित नहीं हो पाती हैं तथा सीधे नीचे चली जाती हैं।

इन पात्रों की अपेक्षा पॉलीबैग में विकसित पादपों की जड़ें ज़्यादा कुंडलित हो जाती हैं। इससे मूल कमज़ोर हो जाता है। जड़ साधकों में तैयार पादपों में जड़ों का पार्श्व जाल बनता है तथा पूर्ण विकसित जड़ें बनती है। इनसे विकसित पौधे रोपण के बाद जल्दी विकसित होते हैं तथा इन्हें कई वर्षों तक प्रयोग में लाया जा सकता है। ये अपेक्षाकृत कम जगह घेरते हैं तथा इनमें विभिन्न स्थानान्तरणों में होने वाली पोषक पदार्थों की हानि से भी बचा जा सकता है। वानिकी के क्षेत्र में जड़ साधकों का प्रयोग कर मरू क्षेत्र में क्रांति लाई जा सकती है।

3. जीवांश तत्वों द्वारा उर्वरा शक्ति में वृद्धि : मरू क्षेत्र की मिट्टी में खनिज लवणों विशेषकर नाइट्रोजन व फॉसफोरस की कमी होती है। पौधों की उचित वृद्धि हेतु भूमि में पोषक तत्वों का होना अतिआवश्यक है। भूमि में पोषक तत्वों की कमी रासायनिक अथवा जैविक खाद द्वारा पूरी की जा सकती है। रासायनिक खाद महंगी होने के अलावा हानिकारक भी होती है अत: जैविक खादों का उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। यही कारण है कि भूमि में नाइट्रीकारक बैक्टीरिया, नीली हरी शैवाल, राइज़ोबियम तथा माइकोराइज़ा का प्रयोग किया जाता है।

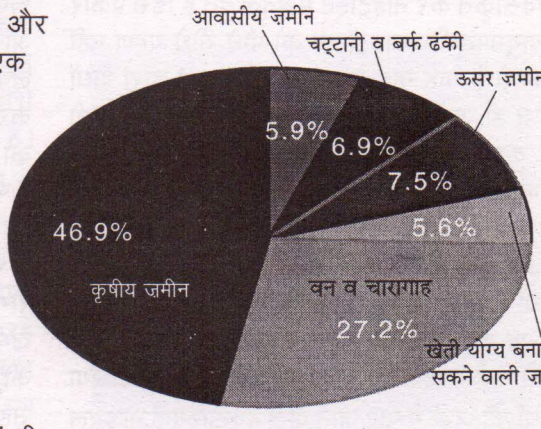

हमारे देश की ज़मीन का बंटवारा : कुल 30 करोड़ 50 लाख हेक्टेयर ज़मीन के लगभग 46 प्रतिशत हिस्से में ही खेती की जाती है।

मानव निर्मित मरुस्थल

अछूते क्षेत्रों के साथ अगर छेड़खानी न की जाए तो ये शुष्क मौसमों में भी पर्याप्त वनस्पति को थामे रख सकते हैं। पेड़ों की जड़ें पानी और मिट्टी को बांधे रख कटाव को रोकते हैं।

मैदानों में खेती और ढलानों में लकड़ी की कटाई ने ज़मीन को हवा-पानी के कटाव के हवाले कर दिया है। उर्वर मिट्टी बहकर मैदानों तक आ पहुंची।

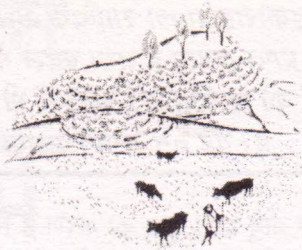

जल्दी-जल्दी फसल लेने की नीयत ने मैदानों की उत्पादकता को तहस नहस कर दिया। अब यह ज़मीन मवेशियों के सुपुर्द है।

मिट्टी के कटाव से खो चुकी ऊर्वरता ने इसे खेती के काबिल न छोड़ा। नतीजतन लगातार चरे जाने ने अपरदन की प्रक्रिया को और तेज़ कर दिया।

आखरी चंद सांसें। बंजर ज़मीन पर मवेशियों के लिए भी कुछ खास नहीं बचा।

कभी ऊर्वर रही ज़मीन अब अनुर्वर हो चुकी है। मिट्टी की ऊपरी परत गायब हो चुकी है। पहाड़ियों और मैदानों पर बड़े-बड़े पत्थर नज़र आने लगे हैं। यह रेतीली ज़मीन अब जीवन को और सहारा नहीं दे सकती।

नाइट्रोसोमोनास बैक्टीरिया वायु में उपस्थित नाइट्रोजन को ऑक्सीकृत कर नाइट्राइट में बदल देते हैं। इस प्रकार जिस वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को पौधे सीधे ग्रहण नहीं कर सकते हैं, वह नाइट्रोजन इन जीवाणुओं द्वारा पौधों को प्राप्त हो जाती है। पौधों को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार कुछ मात्रा में नीली हरी शैवाल जैसे एज़ोला नॉस्टॉक आदि (विशेष रूप से हिटरोसिस्ट संरचना वाले शैवाल) अपने अंदर संग्रहित अतिरिक्त नाइट्रोजन पौधों को देकर भूमि की उर्वरता बढ़ाते हैं। *लैग्युमिनेसी* कुल के पौधों की जड़ों में राइज़ोबियम नामक बैक्टीरिया वातावरण की मुक्त नाइट्रोजन को नाइट्रेट में बदलकर भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करता है। यह बैक्टीरिया इन पौधों की जड़ों में पाए जाने वाले बैक्टीरियाई नोड्यूल (गांठों) में रहता है।

सबसे महत्वपूर्ण जैविक खाद है - माइकोराइज़ा। वर्तमान युग में माइकोराइज़ा का प्रयोग जैविक खाद के रूप में बहुतायत से हो रहा है। वैम वेसीकूलर आरबसकूलर माइकोराइज़ा भूमि में फॉस्फोरस एवं अन्य लवणों की मात्रा में वृद्धि कर इन्हें पौधों को उपलब्ध कराते हैं। माइकोराइज़ा का शाब्दिक अर्थ कवक व जड़ का सहजीवन है। इस सहजीवन में कवक पौधों से कुछ प्राप्त करता है। बदले में वह पौधे को पोषक तत्व व पानी प्रदान करता है। माइकोराइज़ा पौधों को असामान्य स्थिति में भी बढ़ने में सहायता देता है तथा उन्हें भांति-भांति के रोगों से बचाता है। यह वन लगाने अथवा शुष्क व बंजर ज़मीन को हरा भरा बनाने में भी सहायक है। फॉस्फोरस की कमी की स्थिति में कवक मूल (माइकोराइज़ा) की सहजीविता फॉस्फोरस के अंतर्ग्रहण में सहायक होती है।

शुष्क तथा अर्द्धशुष्क रेगिस्तानी क्षेत्र की अधिकांश फसलें कवक मूलीय होती हैं तथा इनमें प्राकृतिक कवक

आधुनिक युग में आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जोजोबा, तुम्बा, अश्वगंधा, गुग्गुल, सनाय, सदाबहार जैसे पादपों की खेती की जा रही है जिनसे न केवल औषधियों का निर्माण होता है वरन् बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा की बचत भी की जा सकती है। नागौरी अश्वगंधा, सनाय (सोनामुखी), जोजोबा की विश्व में बहुत मांग है तथा इनकी खेती कम पानी में तथा मरू क्षेत्र की परिस्थितियों में बहुत अच्छी तरह से हो सकती है।

मूलों पर निर्भर होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन कवकों की मृदा समुच्चयन में महत्वपूर्ण भूमिका है। अतः जल धारण क्षमता पर इनका अनुकूल प्रभाव पड़ता है। रेतीले टिब्बों का अध्ययन रेत के स्थिरीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सूखा जनित कठोर ज्वार और साइकोप्सिस की जातियों के पौधों में कवक मूल संरोपण से वे अधिक स्वस्थ एवं जलाभाव सह हो जाते हैं। मरू क्षेत्र में कवक मूलों के प्रयोग से भूमि की उर्वरता में असाधारण वृद्धि की जा सकती है।

4. कृषि वानिकी : मरू क्षेत्र में वर्षा की अनियमित स्थिति के कारण कृषि वानिकी का बहुत महत्व है। इससे कृषि एवं वानिकी दोनों से उत्पाद प्राप्त किए जा सकते हैं। कृषि में वृक्षों की उपस्थिति से भूमि की उर्वरता में वृद्धि होती है तथा इन वृक्षों की पत्तियां ज़मीन पर गिरकर भूमि की नमी संचित रखने में सहायक होती हैं तथा खरपतवार भी रोकती हैं। कृषि क्षेत्र या खेतों के चारों ओर लगाए गए ये वृक्ष हवा की गति को कम करते हैं तथा भूमि की नमी को भी बनाए रखते हैं। ये न केवल भूक्षरण रोकते हैं वरन् फल (कृषि उद्यानिकी द्वारा), चारा आदि कई उत्पादों के साथ-साथ लकड़ी का भी स्रोत हैं। आजकल वन, चारागाह, कृषि उद्यानिकी, बहुउद्देशीय वन वृक्ष पद्धति आदि के द्वारा कृषि वानिकी का प्रचार प्रसार जारी है जो मरू क्षेत्र की परिस्थितियों हेतु अति आवश्यक है।

5. वानिकी में अच्छे बीजों का चयन : वानिकी क्षेत्र में बीजों का काफी महत्व है। वनों की उत्पादकता तथा वृक्षारोपण की सफलता उत्तम किस्म के बीजों तथा आधुनिक नर्सरी पर निर्भर करती है। स्रोत परीक्षण द्वारा वैज्ञानिक मरू प्रदेश हेतु उत्तम बीजों का चयन कर रहे हैं ताकि पौध रोपण से क्षेत्र की परिस्थिति के अनुकूल पौधे तैयार हो सकें। अच्छे बीजों को उनकी अंकुरण क्षमता तथा अनुवांशिक गुणों के अलावा अच्छी संतति पैदा करने की क्षमता से भी आंका जाता है। उत्तम बीजों से वृक्षों की उत्तरजीविता में सुधार के साथ-साथ अधिक उपज भी प्राप्त की जा सकती है।

6. क्षारीय व लवणीय भूमि का सुधार: शुष्क तथा अर्द्धशुष्क जलवायु की मिट्टी की विभिन्न किस्मों में लवण तथा क्षार ऊपरी सतह पर एकत्र होता रहता है। राजस्थान के अधिकांश क्षेत्रों में क्षारीय या लवणीय मृदा बहुतायत में मिलती है। इस प्रकार की मृदा में जिप्सम व गोबर की खाद का प्रयोग कर भूमि की उर्वरता में सुधार लाया जा सकता है। सामान्यतः लवणीय क्षारीय भूमि में नाइट्रोजन एवं फॉस्फोरस की कमी पाई जाती है जिसे गोबर एवं जिप्सम द्वारा उपचारित करने पर अनुकूल प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त मरू क्षेत्र में कई पादप भी भूमि की उर्वरता में वृद्धि करते हैं। ये पादप क्षारीय लवणीय भूमि में अच्छी तरह उगते हैं। देशी पादप खारा जाल (*साल्वेडोरा परसिका*) के अतिरिक्त कुछ विदेशी झाड़ियां, मुख्यतः *एट्रीप्लैक्स* प्रजातियां मरू क्षेत्र हेतु उपयुक्त पाई गई हैं। ये पादप भूमि पर कोई बुरा प्रभाव लाए बगैर मिट्टी की रासायनिक प्रकृति और कार्बनिक तत्वों में सुधार करते हैं।

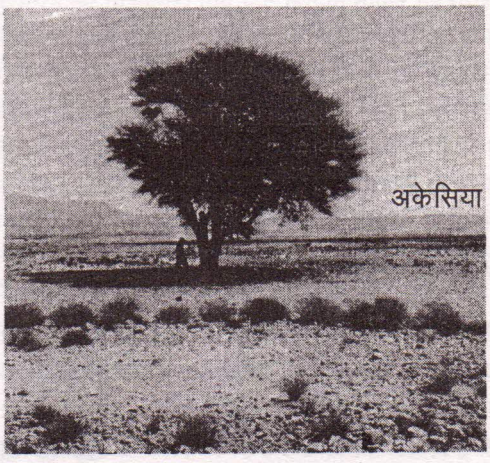

अकेसिया

धूल भरी आंधियां जाने कहां-कहां के टीलों को यहां पटककर चल देती हैं।

7. जैव कीटनाशक : डी.डी.टी., एल्ड्रिन आदि जैसे कीटनाशक के दुष्प्रभावों और लम्बे समय तक इन प्रभावों के रहने के कारण भारत सरकार ने इन्हें प्रतिबंधित कर दिया है। मरू क्षेत्र के कई पादपों से जैव कीटनाशी बनाए जा रहे हैं। इनमें प्रमुख है नीम। नीम से तैयार कीटनाशी एवं अन्य उत्पाद विभिन्न पादप रोगों में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अनाज के भण्डारण में भी नीम की पत्तियां उपयोगी सिद्ध हुई है। इस प्रकार के कीटनाशी पदार्थ सस्ते पड़ते हैं तथा किसी प्रकार की हानि भी नहीं पहुंचाते।

8. औषधीय पादपों की खेती : मरू क्षेत्र औषधियों का भण्डार है। यहां 500 से अधिक प्रकार के औषध पादप पाए जाते हैं। यहां पर परम्परागत रूप में ईसबगोल, अफीम आदि की खेती की जाती है। आधुनिक युग में आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर जोजोबा, तुम्बा, अश्वगंधा, गुग्गुल, सनाय, सदाबहार जैसे पादपों की खेती की जा रही है जिनसे न केवल औषधियों का निर्माण होता है वरन् बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा की बचत भी की जा सकती है। नागौरी अश्वगंधा, सनाय (सोनामुखी), जोजोबा की विश्व में बहुत मांग है तथा इनकी खेती कम पानी में तथा मरू क्षेत्र की परिस्थितियों में बहुत अच्छी तरह से हो सकती है। यह मरू क्षेत्र की आर्थिक उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकती है।

जल संकट व नीली क्रांति

मरू क्षेत्र की परिस्थितियों में मिट्टी व नमी का संरक्षण एक अत्यन्त दुष्कर काम है। बहुत कम व अनियमित वर्षा से इस क्षेत्र में जल संकट लगातार बना रहता है। जिस प्रकार 1960 के दशक में हरित क्रांति की वजह से कृषि क्षेत्र में बदलाव आया था कुछ वैसे ही बदलाव (नीली क्रांति) जल क्षेत्र में लाए जाने की ज़रूरत है। जल को सुरक्षित रखने व नए जल स्रोतों की तलाश की ज़रूरत महसूस की जा रही है। वैज्ञानिकगण मरू क्षेत्र में वर्षा जल के अधिकाधिक संग्रहण तथा वाष्पोत्सर्जन की दर को कम करने वाले प्रयास में लगे हैं। परम्परागत जल स्रोतों के संरक्षण और वैज्ञानिक विधियों के ज़रिए मरू क्षेत्र के निवासी नीली क्रांति का सपना साकार करने में जुटे हैं। विभिन्न प्रकार की जल संग्रहण पद्धतियों जैसे वलयाकार खड्ड, खाई व मेढ़, गहरी जुताई के अलावा पास साईट वॉटर हार्वेस्टिंग के अंतर्गत बड़ी-बड़ी मेढ़ें बनाकर वर्षा जल को अधिकाधिक संग्रहित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। वृक्षारोपण के बाद पतवार या मल्च के रूप में क्षेत्र में पाए जाने वाले खरपतवारों *कोट्रोलेरिया, बुरिया* व *लेप्टाडिनिया* के प्रयोग से वर्षा जल को अधिक समय तक संग्रहित रखने एवं नमी को संचित करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

विश्व बैंक तथा संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार प्रत्येक 21 वर्ष में पानी की खपत दुगुनी हो जाती है। इन आंकड़ों के अनुसार अगले कुछ वर्षों में पानी की भारी कमी होगी। ऐसे में इस शुष्क राजस्थान में जहां पानी की पहले ही कमी है, यह एक भयावह रूप धारण कर लेगी। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी है कि उपलब्ध जल को मितव्ययता से उपयोग में लाया जाए ताकि आने वाले जल संकट की प्रचण्डता कम रहे। दूसरी ओर वानिकी कार्यक्रमों की सफलता वर्षा जल पर निर्भर है। अतः भू-जल एवं वर्षा-जल का संरक्षण अति आवश्यक है।

शुष्क क्षेत्र में वर्षा के पानी का 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सा बहकर निकल जाता है और बाकी बचा बहुत-सा जल वाष्पीकरण द्वारा उड़ जाता है। वर्षा का जल धरती की मात्र ऊपरी परत में ही रहता है, जहां तापमान 40 डिग्री सें. से अधिक रहता है। इस प्रकार इस क्षेत्र में वर्षा-जल के संरक्षण हेतु वैज्ञानिक तरीके अपनाने की खास ज़रूरत है। जल संग्रहण तथा नमी संरक्षण के वैज्ञानिक तरीकों जैसे मल्चिंग, जुताई, खरपतवार आदि से कृषि व अन्य क्षेत्रों में पैदावार बढ़ाने में उल्लेखनीय सफलता मिली है।

इसी दिशा में केंद्रीय मरू अनुसंधान संस्थान

(काजरी) जोधपुर के वैज्ञानिकों द्वारा विकसित दोहरी दीवार वाला एक अनोखा मिट्टी का गमला उपयोगी साबित हो सकता है। इसके अन्दर पेड़ लगाने से पानी एवं नमी की बचत के साथ-साथ उसकी वृद्धि दर को भी बढ़ाया जा सकता है। इसे जल तृप्ति नाम दिया गया है।

इस गमले की बाहरी दीवार को कोलतार से पोत दिया जाता है। दोनों गमलों के बीच की जगह में पानी भरकर भीतरी गमले के अन्दर नर्सरी से प्राप्त मिट्टी सहित पौधा लगा दिया जाता है। पानी से भरे हुए स्थान को ऊपर से पॉलीथीन द्वारा ढंक देते हैं ताकि वाष्पन से जल की हानि न हो। दोनों गमले नीचे से एक दूसरे से जुड़े होते हैं तथा बीच वाले गमले का तल लगभग पूरा खुला होता है जिससे वृद्धि के दौरान पौधे की जड़ें आसानी से उसमें से होकर नीचे की मिट्टी की ओर बढ़ सके। गमले की बाहरी दीवार पर कोलतार होने के कारण उसमें से रिसाव द्वारा जल बाहर नहीं आ पाता जबकि भीतरी गमले के अन्दर भरी गई मिट्टी में उत्पन्न चूषक बल (सक्शन फोर्स) से जल उस ओर रिसाव द्वारा जाता है तथा गमले की मिट्टी को लगातार नम बनाए रखकर पौधे की वृद्धि में सहायक होता है। उक्त गमले में एक बार बाहरी गमले में डाला गया तीन लीटर पानी, पौधे को लगातार 15 दिन तक नमी दे सकता है।

पौधों का चुनाव

वृक्षारोपण हेतु क्षेत्र विशेष की मृदा व परिस्थिति के अनुसार पौधों का चयन किया जाता है। वृक्षारोपण हेतु रेतीले इलाकों में खेजड़ी (*प्रोसोप्रिस सिनरेरिया*), बबूल (*अकेसिया निलोटिका*), नीम, कूमठ आदि उपयुक्त रहते हैं। इसी प्रकार टीला स्थिरीकरण में इस्राइली बबूल (*अकेसिया टोरटाइलिस*), विलायती बबूल (*प्रोसोप्रिस जूलीफ्लोरा*) आक (*केलोट्रॉप्रिस प्रोसेरा*) आदि प्रजातियां उपयुक्त रहती हैं। अच्छी किस्म की बेर की झाड़ियां व वृक्षों में तमिल बबूल (*अकेसिया प्लेनीफोन्स*) भी लगाया जा सकता है। अफ्रीकन बबूल (*अकेसिया अलविडा*) भी टीलों पर अच्छी वृद्धि कर लेता है। अतः इसको भी लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की घास भी टीला स्थिरीकरण में उपयुक्त रहती है जैसे

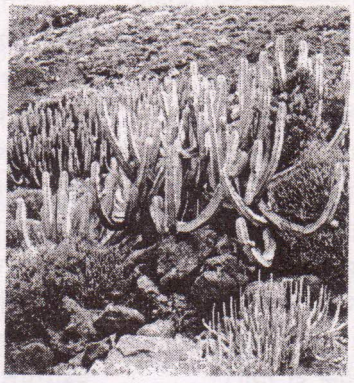

यूफोर्बिया की प्रजातियां

सेवन घास (*लेसीरस सिडिकस*) आदि।

नहरों व नदियों के किनारे जहां पानी प्रचुरता में उपलब्ध रहता है, अधिक पानी की जरूरत वाले वृक्षों का उपयोग उपयुक्त होगा। जैसे नीलगिरी, शीशम, सागवान आदि। चट्टानों एवं पहाड़ी क्षेत्रों में तोर (यूफोर्बिया) की प्रजातियां, आक आदि उपयुक्त रहती हैं। लवणीय भूमि में लवणीय सांद्रता को सहन करने वाले पौधों का चयन करना चाहिए। लवणीय भूमि हेतु *टैमेरिक्स एफाइला, साल्वेडोरा* की प्रजातियां, *हैलोक्सीलॉन* (खारा), *सालसोला, एट्रीप्लैक्स* की प्रजातियां उपयुक्त हैं।

मरू प्रदेश की विषम परिस्थितियों के बारे में सुनकर कई लोग वहां पर मानव जीवन के अस्तित्व होने की कल्पना से आश्चर्यचकित हो जाते हैं वहीं मरू प्रदेश आज वानिकी के नए वैज्ञानिक प्रयासों एवं नीली क्रांति के चलते विश्व का एक महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी केन्द्र बनने हेतु प्रयासरत है। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***